भारतीय न्याय के परिप्रेक्ष्य में

जैन-न्याय में अनुमान-विमर्श

—डा. दरबारीलाल कोठिया

जैन वाङ्मय में अनुमान का क्या रूप है और उसका विकास किस प्रकार हुआ, इस सम्बन्ध में हम प्रस्तुत में विचार करेंगे।

(क) षट्खण्डागम में हेतुवाद का उल्लेख

जैन श्रुत का आलोड़न करने पर ज्ञात होता है कि षट्खण्डागम में श्रुत के पर्याय-नामों में एक 'हेतुवाद'[1] नाम भी परिगणित है, जिसका व्याख्यान आचार्य वीरसेन ने 'हेतु द्वारा तत्सम्बद्ध अन्य वस्तु का ज्ञान करना' किया है और जिस पर से उसे स्पष्टतया अनुमानार्थक माना जा सकता है, क्योंकि अनुमान का भी 'हेतु से साध्य का ज्ञान करना' अर्थ है। अतएव हेतुवाद का व्याख्यान हेतुविद्या, तर्कशास्त्र, युक्तिशास्त्र और अनुमानशास्त्र किया जाता है। स्वामी समन्तभद्र ने सम्भवत: ऐसे ही शास्त्र को 'युक्त्यनुशासन'[2] कहा है और जिसे उन्होंने दृष्ट (प्रत्यक्ष) और आगम से अविरुद्ध अर्थ का प्ररूपक बतलाया है।

(ख) स्थानांगसूत्र में हेतु-निरूपण

स्थानांगसूत्र[3] में 'हेतु' शब्द प्रयुक्त है और इसका प्रयोग प्रमाण सामान्य[4] तथा अनुमान के प्रमुख अंग हेतु (साधन) दोनों के अर्थ में हुआ है। प्रमाण सामान्य के अर्थ में उसका प्रयोग इस प्रकार है—

१. हेतु चार प्रकार का है—

(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) उपमान, (४) आगम

गौतम के न्यायसूत्र में भी ये चार भेद अभिहित हैं। पर वहाँ इन्हें प्रमाण के भेद कहा है।

हेतु के अर्थ में हेतु शब्द निम्न-प्रकार व्यवहृत हुआ है—

२. हेतु के चार भेद हैं—

(१) विधि-विधि—(साध्य और साधन दोनों सद्भावरूप हों)
(२) विधि-निषेध—(साध्य विधिरूप और साधन निषेधरूप)
(३) निषेध-विधि—(साध्य निषेधरूप और हेतु विधिरूप)
(४) निषेध-निषेध—(साध्य और साधन दोनों निषेध रूप हों)

इन्हें हम क्रमश: निम्न नामों से व्यवहृत कर सकते हैं—

(१) विधिसाधक विधिरूप[5] अविरुद्धोपलब्धि[6]

(२) विधिसाधक निषेधरूप विरुद्धानुपलब्धि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(३) निषेधसाधक विधिरूप विरुद्धोपलब्धि
(४) प्रतिषेधसाधक प्रतिषेधरूप अविरुद्धानुपलब्धि[7]

इनके उदाहरण निम्न प्रकार दिये जा सकते हैं—

(१) अग्नि है, क्योंकि धूम है।
(२) इस प्राणी में व्याधिविशेष है, क्योंकि निरामय चेष्टा नहीं है।
(३) यहाँ शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि उष्णता है।
(४) यहाँ धूम नहीं है, क्योंकि अग्नि का अभाव है।

(ग) भगवतीसूत्र में अनुमान का निर्देश

भगवतीसूत्र[8] में भगवान् महावीर और उनके प्रधान शिष्य गौतम (इन्द्रभूति) गणधर के संवाद में प्रमाण के पूर्वोक्त चार भेदों का उल्लेख आया है, जिनमें अनुमान भी सम्मिलित है।

(घ) अनुयोगद्वारसूत्र में अनुमान-निरूपण

अनुमान की कुछ अधिक विस्तृत चर्चा अनुयोगद्वारसूत्र में उपलब्ध होती है। इसमें अनुमान के भेदों का निर्देश करके उनका सोदाहरण निरूपण किया गया है।

१. अनुमान-भेद

इसमें[9] अनुमान के तीन भेद बताए हैं। यथा—

(१) पुव्ववं (पूर्ववत्)
(२) सेसवं (शेषवत्)
(३) दिट्ठसाहम्मवं (दृष्टसाधर्म्यवत्)

(१) **पुव्ववं**[10]—जो वस्तु पहले देखी गयी थी, कालान्तर में किंचित् परिवर्तन होने पर भी उसे प्रत्यभिज्ञा द्वारा पूर्व लिंगदर्शन से अवगत करना 'पुव्ववं' अनुमान है। जैसे बचपन में देखे गये बच्चे को युवावस्था में किंचित् परिवर्तन के साथ देखने पर भी पूर्व-चिह्नों द्वारा ज्ञात करना कि 'वही शिशु' है। यह 'पुव्ववं' अनुमान क्षेत्र, वर्ण, लांछन, मस्सा और तिल प्रभृति चिह्नों से सम्पादित किया जाता है।

(२) **सेसवं**[11]—इसके हेतुभेद से पाँच भेद हैं—

(क) कार्यानुमान
(ख) कारणानुमान
(ग) गुणानुमान
(घ) अवयवानुमान
(ङ) आश्रयी-अनुमान

(क) कार्यानुमान—कार्य से कारण को अवगत करना कार्यानुमान है। जैसे—शब्द के शंख को, ताड़न से भेरी को, ढाडने से वृषभ को, केकारव से मयूर को, हिनहिनाने (ह्रेषित) से अश्व को, गुलगुलायित (चिंघाड़ने) से हाथी को और घणघणायित (घनघनाने) से रथ को अनुमित करना।[12]

(ख) कारणानुमान—कारण से कार्य का अनुमान करना कारणानुमान है। जैसे—तन्तु से पट का, वीरण से कट का, मृत्पिण्ड से घड़े का अनुमान करना। तात्पर्य यह कि जिन कारणों से कार्यों की उत्पत्ति होती है, उनके द्वारा उन कार्यों का अवगम प्राप्त करना 'कारण' नाम का 'सेसवं' अनुमान है।[13]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ग) **गुणानुमान**—गुण से गुणी का अनुमान करना गुणानुमान है। यथा—गन्ध से पुष्प का, रस से लवण का, स्पर्श से वस्त्र का और निकष से सुवर्ण का अनुमान करना।[14]

(घ) **अवयवानुमान**—अवयव से अवयवी का अनुमान करना अवयवानुमान है। यथा—सींग से महिष का, शिखा से कुक्कुट का, शुण्डादण्ड से हाथी का, दाढ़ से वराह का, पिच्छ से मयूर का, लांगूल से वानर का, खुर से अश्व का, नख से व्याघ्र का, बालाग्र से चमरी गाय का, दो पैर से मनुष्य का, चार पैर से गौ आदि का, बहुपाद से कनगोजर (पटार) का, केसर से सिंह का, ककुभ से वृषभ का, चूड़ीसहित बाहु से महिला का, बद्धपरिकरता से योद्धा का, निवास से महल का, धान्य के एक कण से द्रोणपाक का और एक गाथा से कवि का अनुमान करना।[15]

(ङ) **आश्रयी-अनुमान**—आश्रयी से आश्रय का अनुमान करना आश्रयी-अनुमान है। यथा—धूम से अग्नि का, बलाका से जल का, विशिष्ट मेघों से वृष्टि का और शील-सदाचार से कुलपुत्र का अनुमान करना।[16]

शेषवत् के इन पाँचों भेदों में अविनाभावी एक से शेष (अवशेष) का अनुमान होने से उन्हें शेषवत् कहा है।

(३) **दिट्ठसाहम्मवं**[17]—इस अनुमान के दो भेद हैं—

(क) सामन्नदिट्ठ (सामान्य-दृष्ट)

(ख) विसेसदिट्ठ (विशेषदृष्ट)

(क) किसी एक वस्तु को देखकर तत्सजातीय सभी वस्तुओं का साधर्म्य ज्ञात करना या बहुत वस्तुओं को एक-सा देखकर किसी विशेष (एक) में तत्साधर्म्य का ज्ञान करना सामान्यदृष्ट है। यथा— जैसा एक मनुष्य है, वैसे बहुत से मनुष्य हैं। जैसे बहुत से मनुष्य हैं, वैसा एक मनुष्य है। जैसा एक करिशावक है वैसे बहुत से करिशावक हैं। जैसे बहुत से करिशावक हैं, वैसा एक करिशावक है। जैसा एक कार्षापण है, वैसे अनेक कार्षापण हैं। जैसे अनेक कार्षापण हैं, वैसा एक कार्षापण है। इस प्रकार सामान्यधर्मदर्शन द्वारा ज्ञात से अज्ञात का ज्ञान करना सामान्यदृष्ट अनुमान का प्रयोजन है।

(ख) जो अनेक वस्तुओं में से किसी एक को पृथक् करके उसके वैशिष्ट्य का प्रत्यभिज्ञान कराता है वह विशेषदृष्ट है। यथा—कोई एक पुरुष बहुत से पुरुषों के बीच में से पूर्वदृष्ट पुरुष का प्रत्यभिज्ञान करता है कि यह वही पुरुष है। या बहुत से कार्षापणों के मध्य में पूर्वदृष्ट कार्षापण को देखकर प्रत्यभिज्ञा करना कि यह वही कार्षापण है। इस प्रकार का ज्ञान विशेषदृष्ट दृष्टसाधर्म्यवत् अनुमान है।

२. कालभेद से अनुमान का त्रैविध्य[18]

काल की दृष्टि से भी अनुयोग-द्वार में अनुमान के तीन प्रकारों का प्रतिपादन उपलब्ध है। यथा—१. अतीत-कालग्रहण, २. प्रत्युत्पन्नकालग्रहण और ३. अनागतकालग्रहण।

१. **अतीतकालग्रहण**—उत्तृण वन, निष्पन्नशस्या पृथ्वी, जलपूर्ण कुण्ड-सर-नदी-दीर्घिका-तडाग आदि देखकर अनुमान करना कि सुवृष्टि हुई है, यह अतीतकालग्रहण अनुमान है।

२. **प्रत्युत्पन्नकालग्रहण**—भिक्षाचर्या में प्रचुर भिक्षा मिलती देख अनुमान करना कि सुभिक्ष है, यह प्रत्युत्पन्नकालग्रहण अनुमान है।

३. **अनागतकालग्रहण**—बादल की निर्मलता, कृष्ण पहाड़, सविद्युत् मेघ, मेघगर्जन, वातोद्भ्रम, रक्त और प्रस्निग्ध संध्या, वारुण या माहेन्द्र सम्बन्धी या और कोई प्रशस्त उत्पात उनको देखकर अनुमान करना कि सुवृष्टि होगी, यह अनागतकालग्रहण अनुमान है।

उक्त लक्षणों का विपर्यय देखने पर तीनों कालों के ग्रहण में विपर्यय भी हो जाता है। अर्थात् सूखी ज़मीन, शुष्क तालाब आदि देखने पर वृष्टि के अभाव का, भिक्षा कम मिलने पर वर्तमान दुर्भिक्ष का और प्रसन्न दिशाओं आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के होने पर अनागत कुवृष्टि का अनुमान होता है, यह भी अनुयोगद्वार में सोदाहरण अभिहित है। उल्लेखनीय है कि कालभेद से तीन प्रकार के अनुमानों का निर्देश चरक-सूत्रस्थान (अ० ११/२१, २२) में भी मिलता है।

न्यायसूत्र[19], उपायहृदय[20] और सांख्यकारिका[21] में भी पूर्ववत् आदि अनुमान के तीन भेदों का प्रतिपादन है। उनमें प्रथम दो वही हैं जो ऊपर अनुयोगद्वार में निर्दिष्ट हैं। किन्तु तीसरे भेद का नाम अनुयोगद्वार की तरह दृष्टसाधर्म्यवत् न होकर सामान्यतोद्रष्ट है। अनुयोगद्वारगत पूर्ववत् जैसा उदाहरण उपायहृदय (पृ० १३) में भी आया है।

इन अनुमानभेद-प्रभेदों और उनके उदाहरणों के विवेचनों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गौतम के न्यायसूत्र में जिन अनुमानभेदों का निर्देश है वे उस समय की अनुमान चर्चा में वर्तमान थे। अनुयोगद्वार के अनुमानों की व्याख्या अभिधामूलक है। पूर्ववत् का शाब्दिक अर्थ है पूर्व के समान किसी वस्तु को वर्तमान में देखकर उसका ज्ञान प्राप्त करना। स्मरणीय है कि दृष्टव्य वस्तु पूर्वोत्तर काल में मूलतः एक ही है और जिसे देखा गया है उसके सामान्य धर्म पूर्व काल में भी विद्यमान रहते हैं और उत्तरकाल में भी वे पाये जाते हैं। अतः पूर्वदृष्ट के आधार पर उत्तरकाल में देखी वस्तु की जानकारी प्राप्त करना पूर्ववत् अनुमान है। इस प्रक्रिया में पूर्वांश अज्ञात है और उत्तरांश ज्ञात। अतः ज्ञात से अज्ञात (अतीत) अंश की जानकारी (प्रत्यभिज्ञा) की जाती है। जैसा कि अनुयोगद्वार और उपायहृदय में दिये गये उदाहरण से प्रकट है। शेषवत् में कार्य-कारण, गुण-गुणी, अवयव-अवयवी एवं आश्रय-आश्रयी में से अविनाभावी एक अंश को ज्ञात कर शेष (अवशिष्ट) अंश को माना जाता है। शेषवत् शब्द का अभिधेयार्थ भी यही है। साधर्म्य को देखकर तत्तुल्य का ज्ञान प्राप्त करना दृष्टसाधर्म्यवत् अनुमान है। यह भी वाच्यार्थमूलक है। यद्यपि इसके अधिकांश उदाहरण सादृश्य प्रत्यभिज्ञान के तुल्य हैं। पर शब्दार्थ के अनुसार यह अनुमान सामान्यदर्शन पर आश्रित है। दूसरे, प्राचीन काल में प्रत्यभिज्ञान को अनुमान ही माना जाता था। उसे पृथक् मानने की परम्परा दार्शनिकों में बहुत पीछे आयी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनुयोगद्वारसूत्र में उक्त अनुमानों की विवेचना पारिभाषिक न होकर अभिधा-मूलक है।

पर न्यायसूत्र के व्याख्याकार वात्स्यायन के उक्त तीनों अनुमान-भेदों की व्याख्या वाच्यार्थ के आधार पर नहीं की। उन्होंने उनका स्वरूप पारिभाषिक शब्दावली में ग्रथित किया है। इससे यदि यह निष्कर्ष निकाला जाय कि पारिभाषिक शब्दों में प्रतिपादित स्वरूप की अपेक्षा अवयवार्थ द्वारा विवेचित स्वरूप अधिक मौलिक एवं प्राचीन होता है तो अयुक्त न होगा, क्योंकि अभिधा के अनन्तर ही लक्षणा या व्यंजना या रूढ़ शब्दावली द्वारा स्वरूप-निर्धारण किया जाता है। दूसरे, वात्स्यायन की त्रिविध अनुमान-व्याख्या अनुयोगद्वारसूत्र की अपेक्षा अधिक पुष्ट एवं विकसित है। अनुयोगद्वारसूत्र में जिस तथ्य को अनेक उदाहरणों द्वारा उपस्थित किया है उसे वात्स्यायन ने संक्षेप में एक-दो पंक्तियों में ही निबद्ध किया है। अतः भाषा विज्ञान और विकास सिद्धान्त की दृष्टि से अनुयोगद्वार का अनुमान-निरूपण वात्स्यायन के अनुमान-व्याख्यान से प्राचीन प्रतीत होता है।

३. अवयव चर्चा

अनुमान के अवयवों के विषय में आगमों में तो कोई कथन उपलब्ध नहीं होता। किन्तु उनके आधार से रचित तत्त्वार्थसूत्र में तत्त्वार्थसूत्रकार[22] ने अवश्य अवयवों का नामोल्लेख किये बिना पक्ष (प्रतिज्ञा), हेतु और दृष्टान्त इन तीनों के द्वारा मुक्त-जीव का ऊर्ध्वगमन सिद्ध किया है, इससे ज्ञात होता है कि आरम्भ में जैन परम्परा में अनुमान के उक्त तीन अवयव मान्य रहे हैं। समन्तभद्र[23], पूज्यपाद[24] और सिद्धसेन[25] ने भी इन्हीं तीन अवयवों का निर्देश किया है। भद्रबाहु[26] ने दशवैकालिकनिर्युक्ति में अनुमानवाक्य के दो, तीन, पाँच, दश और दश इस प्रकार पाँच तरह से अवयवों की चर्चा की है। प्रतीत होता है कि अवयवों की यह विभिन्न संख्या विभिन्न प्रतिपाद्यों[27] की अपेक्षा बतलाई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यातव्य है कि वात्स्यायन द्वारा समालोचित तथा युक्तिदीपिकाकार द्वारा विवेचित जिज्ञासादि दशावयव भद्रबाहु के दशावयवों से भिन्न हैं।

उल्लेखनीय है कि भद्रबाहु ने मात्र उदाहरण से भी साध्य सिद्धि होने की बात कही है जो किसी प्राचीन परम्परा की प्रदर्शक है[28]।

इस प्रकार जैनागमों में हमें अनुमान-मीमांसा के पुष्कल बीज उपलब्ध होते हैं। यह सही है कि उनका प्रतिपादन केवल निःश्रेयसाधिगम और उसमें उपयोगी तत्त्वों के ज्ञान एवं व्यवस्था के लिए ही किया गया है। यही कारण है कि उनमें न्यायदर्शन की तरह वाद, जल्प और वितण्डापूर्वक प्रवृत्त कथाओं, जातियों, निग्रहस्थानों, छलों और हेत्वाभासों का कोई उल्लेख नहीं है।

४. अनुमान का मूल-रूप

आगमोत्तर काल में जब ज्ञानमीमांसा और प्रमाणमीमांसा का विकास आरम्भ हुआ तो उनके विकास के साथ अनुमान का भी विकास होता गया। आगम-वर्णित मति, श्रुत आदि पाँच ज्ञानों को प्रमाण कहने और उन्हें प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दो भेदों में विभक्त करने वाले सर्वप्रथम आचार्य गृद्धपिच्छ[29] हैं। उन्होंने[30] शास्त्र और लोक में व्यवहृत स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध इन चार ज्ञानों को भी एक सूत्र द्वारा परोक्ष-प्रमाण के अन्तर्गत समाविष्ट करके प्रमाणशास्त्र के विकास का सूत्रपात किया तथा उन्हें परोक्ष प्रमाण के आद्यप्रकार मतिज्ञान का पर्याय प्रतिपादन किया। इन पर्यायों में अभिनिबोध का जिस क्रम से और जिस स्थान पर निर्देश हुआ है उससे ज्ञात होता है कि सूत्रकार[31] ने उसे अनुमान के अर्थ में प्रयुक्त किया है। स्पष्ट है कि पूर्व-पूर्व को प्रमाण और उत्तर-उत्तर को प्रमाण-फल बतलाना उन्हें अभीष्ट है। मति (अनुभव-धारणा) पूर्वक स्मृति, स्मृतिपूर्वक संज्ञा, संज्ञा-पूर्वक चिन्ता और चिन्तापूर्वक अभिनिबोध ज्ञान होता है, ऐसा सूत्र से ध्वनित है। यह चिन्तापूर्वक होने वाला अभिनिबोध अनुमान के अतिरिक्त अन्य नहीं है। अतएव जैन परम्परा में अनुमान का मूलरूप 'अभिनिबोध' और पूर्वोक्त 'हेतुवाद' में उसी प्रकार समाहित है जिस प्रकार वह वैदिक परम्परा में 'वाकोवाक्यम्' और 'आन्वीक्षिकी' में निविष्ट है।

उपर्युक्त मीमांसा से दो तथ्य प्रकट होते हैं। एक तो यह कि जैन परम्परा में ईस्वी पूर्व शताब्दियों से ही अनुमान के प्रयोग, स्वरूप और भेद-प्रभेदों की समीक्षा की जाने लगी थी तथा उसका व्यवहार हेतुजन्य ज्ञान के अर्थ में होने लगा था। दूसरा यह कि अनुमान का क्षेत्र बहुत विस्तृत और व्यापक था। स्मृति, संज्ञा और चिन्ता जिन्हें परवर्ती जैन तार्किकों ने परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत स्वतन्त्र प्रमाणों का रूप प्रदान किया है, अनुमान (अभिनिबोध) में ही सम्मिलित थे। वादिराज[32] ने प्रमाणनिर्णय में सम्भवतः ऐसी ही परम्परा का निर्देश किया है जो उन्हें अनुमान के अन्तर्गत स्वीकार करती थी। अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव जैसे परोक्ष ज्ञानों का भी इसी में समावेश किया गया है।[33]

५. अनुमान का तार्किक विकास

अनुमान का तार्किक विकास स्वामी समन्तभद्र से आरम्भ होता है। आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन और स्वयम्भूस्तोत्र में उन्होंने अनुमान के अनेकों प्रयोग प्रस्तुत किये हैं, जिनमें उनके उपादानों—साध्य, साधन, पक्ष, उदाहरण, अविनाभाव आदि का निर्देश है। सिद्धसेन का न्यायावतार न्याय (अनुमान) का अवतार ही है। इसमें अनुमान का स्वरूप, उसके स्वार्थ-परार्थ द्विविध भेद, उनके लक्षण, पक्ष का स्वरूप, पक्ष प्रयोग पर बल, हेतु के तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति द्विविध प्रयोगों का निर्देश, साधर्म्य-वैधर्म्य दृष्टान्तद्वय, अन्तर्व्याप्ति के द्वारा ही साध्यसिद्धि होने पर भार, हेतु का अन्यथानुपपन्नत्वलक्षण, हेत्वाभास और दृष्टान्ताभास जैसे अनुमानोपकरणों का प्रतिपादन किया गया है। अकलंक के न्याय-विवेचन ने तो उन्हें 'अकलंक-न्याय' का संस्थापक एवं प्रवर्तक ही बना दिया है। उनके विशाल न्याय-प्रकरणों में न्यायविनिश्चय, प्रमाण-संग्रह, लघीयस्त्रय और सिद्धिविनिश्चय जैन प्रमाण-शास्त्र के मूर्धन्य ग्रंथों में परिगणित हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हरिभद्र के शास्त्रवार्तासमुच्चय, अनेकान्त जयपताका आदि ग्रन्थों में अनुमान चर्चा निहित है। विद्यानन्द ने अष्टसहस्री तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, प्रमाण-परीक्षा, पत्रपरीक्षा जैसे दर्शन एवं न्याय-प्रबन्धों को रचकर जैन न्याय वाङ्मय को समृद्ध किया है। माणिक्यनन्दि का परीक्षामुख, प्रभाचन्द्र का प्रमेयकमलमार्तण्ड-न्यायकुमुदचन्द्र-युगल, अभयदेव की सन्मति-तर्कटीका, देवसूरि का प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, अनन्तवीर्य की सिद्धिविनिश्चय टीका, वादिराज का न्यायविनिश्चय-विवरण, लघुअनन्तवीर्य की प्रमेयरत्नमाला, हेमचन्द्र की प्रमाण मीमांसा, धर्मभूषण की न्यायदीपिका और यशोविजय की जैन तर्कभाषा जैन अनुमान के विवेचक प्रमाण ग्रन्थ हैं।

संक्षिप्त अनुमान-विवेचन

अनुमान का स्वरूप

व्याकरण के अनुसार 'अनुमान' शब्द की निष्पत्ति अनु + मा + ल्युट् से होती है। अनु का अर्थ है पश्चात् और मान का अर्थ है ज्ञान। अतः अनुमान का शाब्दिक अर्थ है पश्चाद्वर्ती ज्ञान। अर्थात् एक ज्ञान के बाद होने वाला उत्तरवर्ती ज्ञान अनुमान है। यहाँ 'एक ज्ञान' से क्या तात्पर्य है? मनीषियों का अभिमत है कि प्रत्यक्ष ज्ञान ही एक ज्ञान है जिसके अनन्तर अनुमान की उत्पत्ति या प्रवृत्ति पायी जाती है। गौतम ने इसी कारण अनुमान को 'तत्पूर्वकम्[34] —प्रत्यक्षपूर्वकम्' कहा है। वात्स्यायन[35] का भी अभिमत है कि प्रत्यक्ष के बिना कोई अनुमान सम्भव नहीं। अतः अनुमान के स्वरूप-लाभ में प्रत्यक्ष का सहकार पूर्वकारण के रूप में अपेक्षित होता है। अतएव तर्कशास्त्री ज्ञात—प्रत्यक्षप्रतिपन्न अर्थ से अज्ञात—परोक्ष वस्तु की जानकारी अनुमान द्वारा करते हैं।[36]

कभी-कभी अनुमान का आधार प्रत्यक्ष न रहने पर आगम भी होता है। उदाहरणार्थ, शास्त्रों द्वारा आत्मा की सत्ता का ज्ञान होने पर हम यह अनुमान करते हैं कि 'आत्मा शाश्वत है, क्योंकि वह सत् है।' इसी कारण वात्स्यायन[37] ने 'प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानम्' अनुमान को प्रत्यक्ष या आगम पर आश्रित कहा है। अनुमान का पर्यायशब्द अन्वीक्षा[38] भी है, जिसका शब्दिक अर्थ एक वस्तुज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् दूसरी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना है। यथा—धूम का ज्ञान प्राप्त करने के बाद अग्नि का ज्ञान करना।

उपर्युक्त उदाहरण में धूम द्वारा वह्नि का ज्ञान इसी कारण होता है कि धूम वह्नि का साधन है। धूम को अग्नि का साधन या हेतु मानने का भी कारण यह है कि धूम का अग्नि के साथ नियत साहचर्य सम्बन्ध अविनाभाव है। जहाँ धूम रहता है वहाँ अग्नि अवश्य रहती है। इसका कोई अपवाद नहीं पाया जाता है। तात्पर्य यह कि एक अविनाभावी वस्तु के ज्ञान द्वारा तत्सम्बद्ध इतर वस्तु का निश्चय करना अनुमान है।[40]

अनुमान के अंग

अनुमान के उपर्युक्त स्वरूप का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि धूम से अग्नि का ज्ञान करने के लिए दो तत्त्व आवश्यक हैं—१. पर्वत में धूम का रहना और २. धूम का अग्नि के साथ नियत साहचर्य सम्बन्ध होना। प्रथम को पक्षधर्मता और द्वितीय को व्याप्ति कहा गया है। यही दो अनुमान के आधार अथवा अंग हैं।[41] जिस वस्तु से जहाँ सिद्धि करना है उसका वहाँ अनिवार्य रूप से पाया जाना पक्षधर्मता है। जैसे धूम से पर्वत में अग्नि की सिद्धि करना है तो धूम का पर्वत में अनिवार्य रूप से पाया जाना आवश्यक है। अर्थात् व्याप्य का पक्ष में रहना पक्षधर्मता है।[42] तथा साधनरूप वस्तु का साध्यरूप वस्तु के साथ ही सर्वदा पाया जाना व्याप्ति है। जैसे धूम अग्नि के होने पर ही पाया जाता है—इसके अभाव में नहीं, अतः धूम की वह्नि के साथ व्याप्ति है। पक्षधर्ममता और व्याप्ति दोनों अनुमान के आधार हैं। पक्षधर्मता का ज्ञान हुए बिना अनुमान का उद्भव सम्भव नहीं है। उदाहरणार्थ—पर्वत में धूम की वृत्तिता का ज्ञान न होने पर वहाँ उससे अग्नि का अनुमान नहीं किया जा सकता। अतः पक्षधर्मता का ज्ञान आवश्यक है। इसी प्रकार व्याप्ति का ज्ञान भी अनुमान के लिए परमावश्यक है। यतः पर्वत में धर्मदर्शन के अनन्तर भी तब तक अनुमान की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, जब तक धूम का अग्नि के साथ अनिवार्य सम्बन्ध स्थापित न हो जाए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस अनिवार्य सम्बन्ध का नाम ही नियत साहचर्य सम्बन्ध या व्याप्ति है।[43] इसके अभाव में अनुमान की उत्पत्ति में धूम-ज्ञान का कुछ भी महत्व नहीं है। किन्तु व्याप्ति-ज्ञान के होने पर अनुमान के लिए उक्त धूमज्ञान महत्वपूर्ण बन जाता है और वह अग्निज्ञान को उत्पन्न कर देता है। अतः अनुमान के लिए पक्षधर्मता और व्याप्ति इन दोनों के संयुक्त ज्ञान की आवश्यकता है। स्मरण रहे कि जैन तार्किकों[44] ने व्याप्ति ज्ञान को ही अनुमान के लिए आवश्यक माना है, पक्षधर्मता के ज्ञान को नहीं क्योंकि अपक्षधर्म कृत्तिकोदय आदि हेतुओं से भी अनुमान होता है।

(क) पक्षधर्मता

जिस पक्षधर्मता का अनुमान के आवश्यक अंग के रूप में ऊपर निर्देश किया गया है उसका व्यवहार न्यायशास्त्र में कब से आरम्भ हुआ, इसका यहाँ ऐतिहासिक विमर्श किया जाता है।

कणाद के वैशेषिकसूत्र और अक्षपाद के न्यायसूत्र में न पक्ष शब्द मिलता है और न पक्षधर्मता शब्द। न्यायसूत्र[45] में साध्य और प्रतिज्ञा शब्दों का प्रयोग पाया जाता है, जिनका न्यायभाष्यकार[46] ने प्रज्ञापनीय धर्म से विशिष्ट धर्म अर्थ प्रस्तुत किया है और जिसे पक्ष का प्रतिनिधि कहा जा सकता है, पर पक्ष शब्द प्रयुक्त नहीं है। प्रशस्तपादभाष्य[47] में यद्यपि न्यायभाष्यकार की तरह धर्मी और न्यायसूत्र की तरह प्रतिज्ञा दोनों शब्द एकत्र उपलब्ध हैं। तथा लिंग को त्रिरूप बतला कर उन तीनों रूपों का प्रतिपादन काश्यप के नाम से दो कारिकाएँ उद्धृत करके किया है।[48] किन्तु उन तीन रूपों में भी पक्ष और पक्षधर्मता शब्दों का प्रयोग नहीं है।[49] हाँ, 'अनुमेय सम्बद्ध लिंग' शब्द अवश्य पक्षधर्मता का बोधक है। पर 'पक्षधर्म' शब्द स्वयं उपलब्ध नहीं है।

पक्ष और पक्षधर्मता शब्दों का स्पष्ट प्रयोग सर्वप्रथम सम्भवतः बौद्ध तार्किक शंकरस्वामी के न्यायप्रवेश[50] में हुआ है। इसमें पक्ष, सपक्ष, विपक्ष, पक्षवचन, पक्षधर्म, पक्षधर्मवचन और पक्षधर्मत्व ये सभी शब्द प्रयुक्त हुए हैं। साथ में उनका स्वरूप-विवेचन भी किया है। जो धर्मी के रूप में प्रसिद्ध है, वह पक्ष है। 'शब्द अनित्य है' ऐसा प्रयोग पक्षवचन है। 'क्योंकि वह कृतक है' ऐसा वचन 'पक्षधर्म' (हेतु) वचन है। 'जो कृतक होता है वह अनित्य होता है, यथा घटादि' इस प्रकार का वचन 'सपक्षानुगम (सपक्षसत्व)' वचन है। 'जो नित्य होता है वह अब तक देखा गया है, यथा आकाश' यह 'व्यतिरेक (विपक्षासत्व)' वचन है। इस प्रकार हेतु को त्रिरूप प्रतिपादन करके उसके तीनों रूपों का भी स्पष्टीकरण किया है। वे तीन रूप हैं—१. पक्षधर्मत्व, २. सपक्षसत्व और ३. विपक्षासत्व। ध्यान रहे, यहाँ 'पक्षधर्मत्व' पक्षधर्मता के लिए ही आया है। प्रशस्तपाद ने जिस तथ्य को 'अनुमेयसम्बद्धत्व' शब्द से प्रकट किया है उसे न्यायप्रवेशकार ने 'पक्षधर्मत्व' शब्द द्वारा बतलाया है। तात्पर्य यह कि प्रशस्तपाद के मत से हेतु के तीन रूपों में परिगणित प्रथम रूप 'अनुमेयसम्बद्धत्व' है और न्यायप्रवेश के अनुसार 'पक्षधर्मत्व'। दोनों में केवल शब्द-भेद है, अर्थभेद नहीं। उत्तरकाल में तो प्रायः सभी भारतीय तार्किकों के द्वारा तीन रूपों अथवा पांच रूपों के अन्तर्गत पक्षधर्मत्व का बोधक पक्षधर्मत्व या पक्षधर्मता पद ही अभिप्रेत हुआ है। उद्योतकर[51], वाचस्पति[52], उदयन[53], गंगेश,[54] केशव[55] प्रभृति वैदिक नैयायिकों तथा धर्मकीर्ति[56], धर्मोत्तर[57], अर्चट[58] आदि बौद्धतार्किकों ने अपने ग्रन्थों में उसका प्रतिपादन किया है। पर जैन नैयायिकों ने[59] पक्षधर्मता पर उतना बल नहीं दिया, जितना व्याप्ति पर दिया है। सिद्धसेन[60], अकलंक[61], विद्यानन्द[62], वादीभसिंह[63] आदि ने तो उसे अनावश्यक एवं व्यर्थ भी बतलाया है। उनका मन्तव्य है[64] कि 'कल सूर्य का उदय होगा, क्योंकि वह आज उदय हो रहा है,' 'कल शनिवार होगा, क्योंकि आज शुक्रवार है,' 'ऊपर देश में वृष्टि हुई है, क्योंकि अधोदेश में प्रवाह दृष्टिगोचर हो रहा है,' 'अद्वैतवादी को भी प्रमाण इष्ट हैं, क्योंकि इष्ट का साधन और अनिष्ट का दूषण अन्यथा नहीं हो सकता' जैसे प्रचुर हेतु पक्षधर्मता के अभाव में भी मात्र अन्तर्व्याप्ति के बल पर साध्य के अनुमापक हैं।

(ख) व्याप्ति

अनुमान का सबसे अधिक महत्वपूर्ण और अनिवार्य अंग व्याप्ति है। इसके होने पर ही साधन साध्य का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गमक होता है, उसके अभाव में नहीं। अतएव इसका दूसरा नाम 'अविनाभाव' भी है। देखना है कि इन दोनों शब्दों का प्रयोग कब से आरम्भ हुआ है।

अक्षपाद[65] के न्यायसूत्र और वात्स्यायन[66] के न्यायभाष्य में न व्याप्ति शब्द उपलब्ध होता है और न अविनाभाव। न्यायभाष्य[67] में मात्र इतना मिलता है कि लिंग और लिंगी में सम्बन्ध होता है अथवा वे सम्बद्ध होते हैं। पर वह सम्बन्ध व्याप्ति अथवा अविनाभाव है, इसका वहाँ कोई निर्देश नहीं है। गौतम के हेतु लक्षण-प्रदर्शक सूत्रों[68] से भी केवल यही ज्ञात होता है कि हेतु वह है जो उदाहरण के साधर्म्य अथवा वैधर्म्य से साध्य का साधन करे। तात्पर्य यह कि हेतु को पक्ष में रहने के अतिरिक्त सपक्ष में विद्यमान और विपक्ष से व्यावृत्त होना चाहिए, इतना ही अर्थ हेतु-लक्षण सूत्रों में ध्वनित होता है, हेतु को व्याप्त (व्याप्तिविशिष्ट या अविनाभावी) भी होना चाहिए, इसका उनसे कोई संकेत नहीं मिलता है। उद्योतकर[69] के न्यायवार्तिक में अविनाभाव और व्याप्ति दोनों शब्द प्राप्त हैं। पर उद्योतकर ने उन्हें परमत के रूप में प्रस्तुत किया है तथा उनकी आलोचना भी की है। इससे प्रतीत होता है कि न्यायवार्तिककार को भी न्यायसूत्रकार और न्यायभाष्यकार की तरह अविनाभाव और व्याप्ति दोनों अमान्य हैं। उल्लेख्य है कि उद्योतकर अविनाभाव और व्याप्ति की आलोचना (न्यायवा० १/१/५, पृष्ठ ५४, ५५) कर तो गये। पर स्वकीय सिद्धान्त की व्यवस्था में उनका उपयोग उन्होंने असन्दिग्ध रूप में किया है।[70] उनके परवर्ती वाचस्पति मिश्र[71] ने अविनाभाव को हेतु के पाँच रूपों में समाप्त कह कर उसके द्वारा ही समस्त हेतु रूपों का संग्रह किया है। किन्तु उन्होंने भी अपने कथन को परम्परा-विरोधी समझ कर अविनाभाव का परित्याग कर दिया है और उद्योतकर के अभिप्रायानुसार पक्षधर्मत्वादि पाँच हेतुरूपों को ही महत्व दिया है, अविनाभाव को नहीं। जयन्त भट्ट[72] ने अविनाभाव को स्वीकार करते हुए भी उसे पक्षधर्मत्वादि पाँच रूपों में समाप्त बतलाया है।

इस प्रकार वाचस्पति मिश्र और जयन्त भट्ट के द्वारा जब स्पष्टतया अविनाभाव और व्याप्ति का प्रवेश न्याय-परम्परा में हो गया तो उत्तरवर्ती न्यायग्रन्थकारों ने उन्हें अपना लिया और उनकी व्याख्याएँ आरम्भ कर दीं। यही कारण है कि बौद्ध तार्किकों द्वारा मुख्यतया प्रयुक्त अनन्तरीयक (या नान्तरीयक) तथा प्रतिबन्ध और जैनतर्कग्रन्थकारों द्वारा प्रधानतया प्रयोग में आने वाले अविनाभाव एवं व्याप्ति जैसे शब्द उद्योतकर के बाद न्यायदर्शन में समाविष्ट हो गये एवं उन्हें एक-दूसरे का पर्याय माना जाने लगा। जयन्त भट्ट[73] ने अविनाभाव का स्पष्टीकरण करने के लिए व्याप्ति, नियम, प्रतिबन्ध और साध्याविनाभावित्व को उसी का पर्याय बतलाया है। वाचस्पति मिश्र[74] कहते हैं कि हेतु का कोई भी सम्बन्ध हो उसे स्वाभाविक एवं नियत होना चाहिए और स्वाभाविक का अर्थ वे उपाधिरहित बतलाते हैं। इस प्रकार का हेतु ही गमक होता है और दूसरा सम्बन्धी (साध्य) गम्य। तात्पर्य यह कि उनका अविनाभाव या व्याप्ति शब्दों पर जोर नहीं है पर उदयन[75], केशव मिश्र[76], अन्नम्भट्ट[77], विश्वनाथ पंचानन[78] प्रभृति नैयायिकों ने व्याप्ति शब्द को अपनाकर उसी का विशेष व्याख्यान किया है तथा पक्षधर्मता के साथ उसे अनुमान का प्रमुख अंग बतलाया है। गंगेश और उनके अनुवर्ती वर्द्धमान उपाध्याय, पक्षधर मिश्र, वासुदेव मिश्र, रघुनाथ शिरोमणि, मथुरानाथ तर्कवागीश जगदीश तर्कालंकार, गदाधर भट्टाचार्य आदि नव्य नैयायिकों[79] ने तो व्याप्ति पर सर्वाधिक चिन्तन और निबन्धन भी किया है। गंगेश ने तत्वचिन्तामणि में अनुमानलक्षण[80] प्रस्तुत करके उसके व्याप्ति[81] और पक्षधर्मता[82] दोनों अंगों का नव्यपद्धति से विवेचन किया है।

वैशेषिक दर्शन में प्रशस्तपाद के भाष्य[83] में अविनाभाव का प्रयोग अवश्य उपलब्ध होता है और उन्होंने अविनाभूत लिंग को लिंगी का गमक बतलाया है। पर वह उन्हें त्रिलक्षणरूप ही अभिप्रेत है।[84] यही कारण है कि टिप्पणकार[85] ने अविनाभाव का अर्थ 'व्याप्ति' एवं 'अव्यभिचरित सम्बन्ध' दे करके भी शंकरमिश्र द्वारा किये गये अविनाभाव के खण्डन से सहमति प्रकट की है और 'वस्तुतस्त्वनौपाधिकसम्बन्ध एवं व्याप्तिः'[86] इस उदयनोक्त[87] व्याप्ति लक्षण को ही मान्य किया है। इससे प्रतीत होता है कि अविनाभाव की मान्यता वैशेषिक दर्शन की भी स्वोपज्ञ एवं मौलिक नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मीमांसादर्शन में कुमारिल के मीमांसाश्लोकवार्तिक[88] में व्याप्ति और अविनाभाव दोनों शब्द मिलते हैं। पर उनके पूर्व न जैमिनिसूत्र में वे हैं और न शावरभाष्य में।

बौद्ध तार्किक शंकरस्वामी के न्यायप्रवेश[89] मे भी अविनाभाव और व्याप्ति शब्द नहीं हैं। पर उनके अर्थ का बोधक नान्तरीयक (अनन्तरीयक) शब्द पाया जाता है। धर्मकीर्ति[90], धर्मोत्तर[91], अर्चट[92] आदि बौद्ध नैयायिकों ने अवश्य प्रतिबन्ध और नान्तरीयक शब्दों के साथ इन दोनों का भी प्रयोग किया है। इनके पश्चात् तो उक्त शब्द बौद्ध तर्कग्रन्थों में बहुलता से उपलब्ध हैं।

प्रश्न और समाधान

तब प्रश्न है कि अविनाभाव और व्याप्ति का मूल उद्भव स्थान क्या है? अनुसन्धान करने पर ज्ञात होता है कि प्रशस्तपाद और कुमारिल से पूर्व जैन तार्किक समन्तभद्र[93] ने, जिनका समय[94] विक्रम की दूसरी-तीसरी शती माना जाता है, अस्तित्व को नास्तित्व का और नास्तित्व को अस्तित्व का अविनाभावी बतलाते हुए अविनाभाव शब्द का व्यवहार किया है। एक दूसरे स्थल[95] पर भी उन्होंने उसे स्पष्ट स्वीकार किया है। और इस प्रकार अविनाभाव का निर्देश मान्यता के रूप में सर्वप्रथम समन्तभद्र ने किया जान पड़ता है। प्रशस्तपाद की तरह उन्होंने उसे त्रिलक्षणरूप स्वीकार नहीं किया। उनके पश्चात् तो वह जैन परम्परा में हेतुलक्षणरूप में ही प्रतिष्ठित हो गया। पूज्यपाद[96] ने, जिनका अस्तित्व-समय ईसा की पाँचवी शताब्दी है, अविनाभाव और व्याप्ति दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। सिद्धसेन[97], पात्रस्वामी[98], कुमारनन्दि[99], अकलंक[100], माणिक्यनन्दि[101] आदि जैन तर्क-ग्रन्थकारों ने अविनाभाव, व्याप्ति और अन्यथानुपपत्ति या अन्यथानुपपन्नत्व तीनों का व्यवहार पर्यायशब्दों के रूप में किया है। जो (साधन) जिस (साध्य) के बिना उत्पन्न न हो उसे अन्यथानुपपन्न कहा गया है[102]। असम्भव नहीं कि शावरभाष्यगत[103] अर्थापत्त्युत्थापक अन्यथानुपपद्यमान और प्रभाकर की बृहती[104] में उसके लिए प्रयुक्त अन्यथानुपपत्ति शब्द अर्थापत्ति और अनुमान को अभिन्न मानने वाले जैन तार्किकों से अपनाये गये हों, क्योंकि ये शब्द जैन न्यायग्रन्थों में अधिक प्रचलित एवं प्रयुक्त मिलते हैं और शान्तरक्षित[105] आदि प्राचीन तार्किकों ने उन्हें पात्रस्वामी का मत कहकर उद्धृत तथा समालोचित किया है। अतः उसका उद्गम जैन तर्कग्रन्थों से बहुत कुछ सम्भव है।

प्रस्तुत अनुशीलन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि न्याय, वैशेषिक और बौद्ध दर्शन में आरम्भ में पक्षधर्मता (सपक्षसत्व और विपक्षव्यावृत्ति सहित) को तथा मध्यकाल और नव्ययुग में पक्षधर्मता और व्याप्ति दोनों को अनुमान का आधार माना गया है। पर जैन तार्किकों ने आरम्भ से अन्त तक पक्षधर्मता (अन्य दोनों रूपों सहित) को अनावश्यक तथा एकमात्र व्याप्ति (अविनाभाव, अन्यथानुपपन्नत्व) को अनुमान का अपरिहार्य अंश बतलाया है।

अनुमान-भेद

प्रश्न है कि अनुमान कितने प्रकार का माना गया है? अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि सर्वप्रथम कणाद[106] ने अनुमान के प्रकारों का निर्देश किया है। उन्होंने इसकी स्पष्टतः संख्या का तो उल्लेख नहीं किया, किन्तु उसके प्रकारों को गिनाया है। उनके परिगणित प्रकार निम्न हैं— (१) कार्य, (२) कारण, (३) संयोग, (४) विरोध और (५) समवायि। यतः हेतु के पाँच भेद हैं, अतः उनसे उत्पन्न अनुमान भी पाँच हैं।

न्यायसूत्र[107], उपायहृदय[108], चरक[109] सांख्यकारिका[110] और अनुयोगद्वारसूत्र[111] में अनुमान के पूर्वोल्लिखित पूर्ववत् आदि तीन भेद बताये हैं। विशेष यह कि चरक में त्रित्वसंख्या का उल्लेख है, उनके नाम नहीं दिये। सांख्यकारिका में भी त्रिविधत्व का निर्देश है और केवल तीसरे सामान्यतोदृष्ट का नाम है[112]। किन्तु माठर[113] तथा युक्तिदीपिकाकार[114] ने तीनों के नाम दिये हैं और वे उपर्युक्त ही हैं। अनुयोगद्वार में प्रथम दो भेद तो वही हैं, पर तीसरे का नाम सामान्यतोदृष्ट न होकर दृष्टसाधर्म्यवत् नाम है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस विवेचन से ज्ञात होता है कि तार्किकों ने उस प्राचीन काल में कणाद की पंचविध अनुमान-परम्परा को नहीं अपनाया, किन्तु पूर्ववदादि त्रिविध अनुमान की परम्परा को स्वीकार किया है। इस परम्परा का मूल क्या है? न्यायसूत्र है या अनुयोगद्वारसूत्र आदि में से कोई एक? इस सम्बन्ध में निर्णयपूर्वक कहना कठिन है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उस समय पूर्वागत त्रिविध अनुमान की कोई सामान्य परम्परा रही है जो अनुमानचर्चा में वर्तमान थी और जिसके स्वीकारने में किसी को सम्भवतः विवाद नहीं था।

पर उत्तरकाल में यह त्रिविध अनुमान-परम्परा भी सर्वमान्य नहीं रह सकी। प्रशस्तपाद[115] ने दो तरह से अनुमान-भेद बतलाये हैं—१. दृष्ट और २. सामान्यतोदृष्ट। अथवा १. स्वनिश्चितार्थानुमान और २. परार्थानुमान। मीमांसादर्शन में शबर[116] ने प्रशस्तपाद के प्रथमोक्त अनुमान-द्वैविध्य को ही कुछ परिवर्तन के साथ स्वीकार किया है—१. प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्ध और २. सामान्यतोदृष्टसम्बन्ध। सांख्यदर्शन में वाचस्पति[117] के अनुसार वीत और अवीत ये दो भेद भी मान लिये हैं। वीतानुमान को उन्होंने पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट द्विविधरूप और अवीतानुमान को शेषवत्रूप मानकर उक्त अनुमानत्रैविध्य के साथ समन्वय भी किया है। ध्यातव्य है कि सांख्यों की सप्तविध अनुमान-मान्यता का भी उल्लेख उद्योतकर[118], वाचस्पति[119] और प्रभाचन्द्र[120] ने किया है। पर वह हमें सांख्यदर्शन के उपलब्ध ग्रन्थों में प्राप्त नहीं हो सकी। प्रभाचन्द्र ने तो प्रत्येक का स्वरूप और उदाहरण देकर उन्हें स्पष्ट भी किया है।

आगे चलकर जो सर्वाधिक अनुमानभेद-परम्परा प्रतिष्ठित हुई वह है प्रशस्तपाद की उक्त—१. स्वार्थ और २. परार्थ भेद वाली परम्परा। उद्योतकर[121] ने पूर्ववदादि अनुमानत्रैविध्य की तरह केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी इन तीन नये अनुमान-भेदों का भी प्रदर्शन किया है। किन्तु उन्होंने और उनके उत्तरवर्ती वाचस्पति तक के नैयायिकों ने प्रशस्तपादनिर्दिष्ट उक्त स्वार्थ-परार्थ के अनुमान-द्वैविध्य को अंगीकार नहीं किया। पर जयन्तभट्ट[122] और उनके पश्चात्वर्ती केशव मिश्र[123] आदि ने उक्त अनुमानद्वैविध्य को मान लिया है।

बौद्ध दर्शन में दिङ्नाग से पूर्व उक्त द्वैविध्य की परम्परा नहीं देखी जाती है परन्तु दिङ्नाग[124] ने उसका प्रतिपादन किया है। उनके पश्चात् तो धर्मकीर्ति[125] आदि ने इसी का निरूपण एवं विशेष व्याख्यान किया है।

जैन तार्किकों[126] ने इसी स्वार्थ-परार्थ अनुमान-द्वैविध्य को अंगीकार किया है और अनुयोगद्वारादिप्रतिपादित अनुमानत्रैविध्य को स्थान नहीं दिया, प्रत्युत उसकी समीक्षा की है।[127]

इस प्रकार अनुमान-भेदों के विषय में भारतीय तार्किकों की विभिन्न मान्यतायें तर्कग्रन्थों में उपलब्ध होती हैं। तथ्य यह कि कणाद जहाँ साधनभेद से अनुमानभेद का निरूपण करते हैं वहाँ न्यायसूत्र आदि में विषयभेद तथा प्रशस्तपादभाष्य आदि में प्रतिपत्ताभेद से अनुमान-भेद का प्रतिपादन ज्ञात होता है। साधन अनेक हो सकते हैं, जैसा कि प्रशस्तपाद[128] ने कहा है, अतः अनुमान के भेदों की संख्या पांच से अधिक भी हो सकती है। न्यायसूत्रकार आदि की दृष्टि में चूंकि अनुमेय या तो कार्य होगा, या कारण या अकार्यकारण। अतः अनुमेय के त्रैविध्य से अनुमान त्रिविध है। प्रशस्तपाद द्विविध प्रतिपत्ताओं की द्विविध प्रतिपत्तियों की दृष्टि से अनुमान के स्वार्थ और परार्थ दो ही भेद मानते हैं, जो बुद्धि को लगता है, क्योंकि अनुमान एक प्रकार की प्रतिपत्ति है और वह स्व तथा पर दो के द्वारा की जी जाती है। सम्भवतः इसी से उत्तरकाल मे अनुमान का स्वार्थ-परार्थ द्वैविध्य सर्वाधिक प्रतिष्ठित और लोकप्रिय हुआ।

अनुमानावयव

अनुमान के तीन उपादान है[129], जिनसे वह निष्पन्न होता है—१. साधन, २. साध्य और ३. धर्मी। अथवा[130] १. पक्ष और २. हेतु ये दो उसके अंग हैं, क्योंकि साध्यधर्म विशिष्ट धर्मी को पक्ष कहा गया है, अतः पक्ष को कहने से धर्म और धर्मी दोनों का ग्रहण हो जाता है। साधन गमकरूप से उपादान है, साध्य गम्यरूप से और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मी साध्यधर्म के आधार रूप से, क्योंकि किसी आधार-विशेष में साध्य की सिद्धि करना अनुमान का प्रयोजन है। सच यह है कि केवल धर्म की सिद्धि करना अनुमान का ध्येय नहीं है, क्योंकि वह व्याप्ति-निश्चयकाल में ही अवगत हो जाता है और न केवल धर्मी की सिद्धि अनुमान के लिए अपेक्षित है, क्योंकि वह सिद्ध रहता है। किन्तु 'पर्वत अग्नि-वाला है' इस प्रकार पर्वत में रहने वाली अग्नि का ज्ञान करना अनुमान का लक्ष्य है। अतः धर्मी भी साध्यधर्म के आधार रूप से अनुमान का अंग है। इस तरह साधन, साध्य और धर्मी ये तीन अथवा पक्ष और हेतु ये दो स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान दोनों के अंग हैं। कुछ अनुमान ऐसे भी होते हैं जहाँ धर्मी नहीं होता। जैसे—सोमवार से मंगल का अनुमान आदि। ऐसे अनुमानों में साधन और साध्य दो ही अग हैं।

उपर्युक्त अंग स्वार्थानुमान और ज्ञानात्मक परार्थानुमान के कहे गये हैं। किन्तु वचनप्रयोग द्वारा प्रतिवादियों या प्रतिपाद्यों को अभिधेय प्रतिपत्ति कराना जब अभिप्रेत होता है तब वह वचनप्रयोग परार्थानुमान-वाक्य के नाम से अभिहित होता है और उसके निष्पादक अंगों को अवयव कहा गया है। परार्थानुमानवाक्य के कितने अवयव होने चाहिए, इस सम्बन्ध में तार्किकों के विभिन्न मत हैं। न्यायसूत्रकार[131] का मत है कि परार्थानुमानवाक्य के पाँच अवयव हैं—१. प्रतिज्ञा, २. हेतु, ३. उदाहरण, ४. उपनय और ५. निगमन। भाष्यकार[132] ने सूत्रकार के उक्त मत का न केवल समर्थन ही किया है, अपितु अपने काल में प्रचलित दशावयव मान्यता का निरास भी किया है। वे दशावयव हैं—उक्त पाँच तथा ६. जिज्ञासा, ७. संशय, ८. शक्यप्राप्ति, ९. प्रयोजन और १०. संशयव्युदास।

यहाँ प्रश्न है कि ये दश अवयव किनके द्वारा माने गये हैं ? भाष्यकार ने उन्हें 'दशावयवानेके नैयायिका वाक्ये संचक्षते'[133] शब्दों द्वारा 'किन्हीं नैयायिकों' की मान्यता बतलाई है। पर मूल प्रश्न असमाधेय ही रहता है।

हमारा अनुमान है कि भाष्यकार को 'एके नैयायिकाः' पद से प्राचीन सांख्यविद्वान युक्तिदीपिकाकार अभिप्रेत हैं, क्योंकि युक्तिदीपिका[134] में उक्त दशावयवों का न केवल निर्देश है किन्तु स्वमतरूप में उनका विशद एवं विस्तृत व्याख्यान भी है। युक्तिदीपिकाकार उन अवयवों को बतलाते हुए प्रतिपादन करते हैं[135] कि 'जिज्ञासा, संशय, प्रयोजन, शक्यप्राप्ति और संशयव्युदास ये पाँच अवयव व्याख्यांग हैं तथा प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपसंहार और निगमन ये पाँच परप्रतिपादनांग। तात्पर्य यह है कि अभिधेय का प्रतिपादन दूसरे के लिए प्रतिज्ञादि द्वारा होता है और व्याख्या जिज्ञासादि द्वारा। पुनरुक्ति, वैयर्थ्य आदि दोषों का निरास करते हुए युक्तिदीपिका में कहा में कहा गया है[136] कि विद्वान-सब के अनुग्रह के लिए जिज्ञासादि का अभिधान करते हैं। अतः व्युत्पाद्य अनेक तरह के होते हैं—सन्दिग्ध, विपर्यस्त और अव्युत्पन्न। अतः इन सभी के लिए सन्तों का प्रयास होता है। दूसरे, यदि वादी प्रतिवादी से प्रश्न करे कि क्या जानना चाहते हो ? तो उसके लिए जिज्ञासादि अवयवों का वचन आवश्यक है। किन्तु प्रश्न न करे तो उसके लिए वे नहीं भी कहे जाएँ। अन्त में निष्कर्ष निकालते हुए युक्तिदीपिकाकार[137] कहते हैं कि इसी से हमने जो वीतानुमान के दशावयव कहे वे सर्वथा उचित हैं। आचार्य[138] (ईश्वरकृष्ण) उनके प्रयोग को न्यायसंगत मानते हैं। इससे अवगत होता है कि दशावयव की मान्यता युक्तिदीपिकाकार की रही है। यह भी सम्भव है कि ईश्वरकृष्ण या उनसे पूर्व किसी सांख्य विद्वान् ने दशावयवों को माना हो और युक्तिदीपिकाकार ने उसका समर्थन किया हो।

जैन विद्वान् भद्रबाहु[139] ने भी दशावयवों का उल्लेख किया है। किन्तु उनके वे दशावयव उपर्युक्त दशावयवों से कुछ भिन्न हैं।

प्रशस्तपाद[140] ने पाँच अवयव माने हैं। पर उनके अवयव-नामों और न्यायसूत्रकार के अवयवनामों में कुछ अन्तर है। प्रतिज्ञा के स्थान में तो प्रतिज्ञा नाम ही है। किन्तु हेतु के लिए अपदेश, दृष्टान्त के लिए निदर्शन, उपनय के स्थान में अनुसन्धान और निगमन की जगह प्रत्याम्नाय नाम दिये हैं। यहाँ प्रशस्तपाद[141] की एक विशेषता उल्लेखनीय है। न्यायसूत्रकार ने जहाँ प्रतिज्ञा का लक्षण 'साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा' यह किया है वहाँ प्रशस्तपाद ने 'अनुमेयोद्देशोऽविरोधी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिज्ञा' यह कहकर उसमें 'अविरोधी' पद के द्वारा प्रत्यक्ष-विरुद्ध आदि पाँच विरुद्धसाध्यों (साध्याभासों) का भी निरास किया है। न्यायप्रवेशकार[142] ने भी प्रशस्तपाद का अनुसरण करते हुए स्वकीय पक्षलक्षण में 'अविरोध' जैसा ही 'प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध' विशेषण किया है और उसके द्वारा प्रत्यक्षविरुद्धादि साध्याभासों का परिहार किया है।

न्यायप्रवेश[143] और माठरवृत्ति[144] में पक्ष, हेतु और दृष्टान्त ये तीन अवयव स्वीकृत हैं। धर्मकीर्ति[145] ने उक्त तीन अवयवों में से पक्ष को निकाल दिया है और हेतु तथा दृष्टान्त ये दो अवयव माने हैं। न्यायबिन्दु और प्रमाण-वार्तिक में उन्होंने केवल हेतु को ही अनुमानावयव माना है[146]।

मीमांसक विद्वान् शालिकानाथ[1] ने प्रकरणपंचिका में, नारायण भट्ट[148] ने मानमेयोदय में और पार्थसारथि[149] ने न्यायरत्नाकर में प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवों के प्रयोग को प्रतिपादित किया है।

जैन तार्किक समन्तभद्र का संकेत तत्त्वार्थसूत्रकार के अभिप्रायानुसार पक्ष, हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवों को मानने की ओर प्रतीत होता है। उन्होंने आप्तमीमांसा (का० ६, १७, १८, २७ आदि) में उक्त तीन अवयवों से साध्य-सिद्धि प्रस्तुत की है। सिद्धसेन [150] ने भी उक्त तीन अवयवों का प्रतिपादन किया है। पर अकलंक[151] और उनके अनुवर्ती विद्यानन्द[152], माणिक्यनन्दि[153], देवसूरि[154], हेमचन्द्र[155], धर्मभूषण[156], यशोविजय[157] आदि ने पक्ष और हेतु ये दो ही अवयव स्वीकार किये हैं और दृष्टान्तादि अन्य अवयवों का निरास किया है। देवसूरि[158] ने अत्यन्त व्युत्पन्न की अपेक्षा मात्र हेतु के प्रयोग को भी मान्य किया है। पर साथ ही वे यह भी बतलाते हैं कि बहुलता के एक मात्र हेतु का प्रयोग न होने से उसे सूत्र में ग्रथित नहीं किया। स्मरण रहे कि जैन-न्याय में उक्त दो अवयवों का प्रयोग व्युत्पन्न प्रतिपाद्य की दृष्टि से अभिहित है किन्तु अव्युत्पन्न प्रतिपाद्यों की अपेक्षा से तो दृष्टान्तादि अन्य अवयवों का भी प्रयोग स्वीकृत है[159]। देवसूरि[160], हेमचन्द्र,[161] और यशोविजय[162] ने भद्रबाहुकथित पक्षादि पाँच शुद्धियों के भी वाक्य में समावेश का कथन किया और उनके दशावयवों का समर्थन किया है।

अनुमान-दोष

अनुमान-निरूपण के सन्दर्भ में भारतीय तार्किकों ने अनुमान के सम्भव दोषों पर भी विचार किया है। यह विचार इसलिए आवश्यक रहा है कि उससे यह जानना शक्य है कि प्रयुक्त अनुमान सदोष है या निर्दोष? क्योंकि जब तक किसी दोष के प्रामाण्य या अप्रामाण्य का निश्चय नहीं होता तब तक वह ज्ञान अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि या असिद्धि नहीं कर सकता। इसी से यह कहा गया है[163] कि प्रमाण से अर्थ संसिद्धि होती है और प्रमाणाभास से नहीं। और यह प्रकट है कि प्रामाण्य का कारण गुण है और अप्रामाण्य का कारण दोष। अतएव अनुमानप्रामाण्य के हेतु उसकी निर्दोषता का पता लगाना बहुत आवश्यक है। यही कारण है कि तर्क-ग्रन्थों में प्रमाण-निरूपण के परिप्रेक्ष्य में प्रमाणाभास निरूपण भी पाया जाता है। न्यायसूत्र[164] में प्रमाणपरीक्षा प्रकरण में अनुमान की परीक्षा करते हुए उसमें दोषांश का और उसका निरास किया गया है। वात्स्यायन[165] ने अननुमान (अनुमानाभास) को अनुमान समझने की चर्चा द्वारा स्पष्ट बतलाया है कि दूषितानुमान भी सम्भव है।

अब देखना है कि अनुमान में क्या दोष हो सकते हैं और वे कितने प्रकार के सम्भव हैं? स्पष्ट है कि अनुमान का गठन मुख्यतया दो अंगों पर निर्भर है—१ साधन और २ साध्य (पक्ष)। अतएव दोष भी साधनगत और साध्यगत दो ही प्रकार के हो सकते हैं और उन्हें क्रमशः साधनाभास तथा साध्याभास (पक्षाभास) नाम दिया जा सकता है। साधन अनुमान-प्रासाद का वह प्रधान एवं महत्वपूर्ण स्तम्भ है जिस पर उसका भव्य भवन निर्मित होता है। यदि प्रधान स्तम्भ निर्बल हो तो प्रासाद किसी भी क्षण क्षतिग्रस्त एवं धराशायी हो सकता है। सम्भवतः इसी से गौतम[166] ने साध्यगत दोषों का विचार न कर मात्र साधनगत दोषों का विचार किया और उन्हें अवयवों की तरह सोलह पदार्थों के अन्तर्गत स्वतन्त्र पदार्थ (हेत्वाभास) का स्थान प्रदान किया है। इससे गौतम की दृष्टि में उनकी अनुमान में प्रमुख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिबन्धकता प्रकट होती है। उन्होंने[167] उन साधनगत दोषों को, जिन्हें हेत्वाभास के नाम से उल्लिखित किया गया है, पाँच बतलाया है। वे हैं—१. सव्यभिचार, २. विरुद्ध, ३. प्रकरणसम, ४. साध्यसम और ५. कालातीत। हेत्वाभासों की पाँच संख्या सम्भवतः हेतु के पाँच रूपों के अभाव पर आधारित जान पड़ती है। यद्यपि हेतु के पाँच रूपों का निर्देश न्यायसूत्र में उपलब्ध नहीं है। पर उसके व्याख्याकार उद्योतकर प्रभृति ने उनका उल्लेख किया है। उद्योतकर[168] ने हेतु का प्रयोजक समस्त रूप सम्पत्ति को और हेत्वाभास का प्रयोजक असमस्तरूपसम्पत्ति को बतला कर उन रूपों का संकेत किया है। वाचस्पति[169] ने उनकी स्पष्ट परिगणना भी कर दी है। वे पाँच रूप हैं—पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व, विपक्षासत्व, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व। इनके अभाव से हेत्वाभास पाँच ही सम्भव हैं। जयन्तभट्ट[170] ने तो स्पष्ट लिखा है कि एक-एक रूप के अभाव में पाँच हेत्वाभास होते हैं। न्यायसूत्रकार ने एक-एक पृथक् सूत्र द्वारा उनका निरूपण किया है। वात्स्यायन[171] ने हेत्वाभास का स्वरूप देते हुए लिखा है कि जो हेतुलक्षण (पञ्चरूप) रहित हैं परन्तु कतिपय रूपों के रहने के कारण हेतु-सादृश्य से हेतु की तरह आभासित होते हैं उन्हें अहेतु अर्थात् हेत्वाभास कहा गया है। सर्वदेव[172] ने भी हेत्वाभास का यही लक्षण दिया है।

कणाद[173] ने अप्रसिद्ध, विरुद्ध और सन्दिग्ध ये तीन हेत्वाभास प्रतिपादित किये हैं। उनके भाष्यकार प्रशस्तपाद[174] ने उनका समर्थन किया है। विशेष यह कि उन्होंने[175] काश्यप की दो कारिकाएँ उद्धृत करके पहली द्वारा हेतु को त्रिरूप और दूसरी द्वारा उन तीन रूपों के अभाव से निष्पन्न होने वाले उक्त विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्ध तीन हेत्वाभासों को बताया है। प्रशस्तपाद[176] का एक वैशिष्ट्य और उल्लेख्य है। उन्होंने निदर्शन के निरूपण-सन्दर्भ में बारह निदर्शनाभासों का भी प्रतिपादन किया है, जबकि न्यायसूत्र और न्यायभाष्य में उनका कोई निर्देश प्राप्त नहीं है। पाँच प्रतिज्ञाभासों (पक्षाभासों) का भी कथन प्रशस्तपाद[177] ने किया है, जो बिलकुल नया है। सम्भव है, न्यायसूत्र में हेत्वाभासों के अन्तर्गत जिस कालातीत (बाधितविषय-कालात्ययापदिष्ट) का निर्देश है उसके द्वारा इन प्रतिज्ञाभासों का संग्रह न्यायसूत्रकार को अभीष्ट हो। सर्वदेव[178] ने छह हेत्वाभास बताये हैं।

उपायहृदय[179] में आठ हेत्वाभासों का निरूपण है। इनमें चार (कालातीत, प्रकरणसम, सव्यभिचार और विरुद्ध) हेत्वाभास न्यायसूत्र जैसे ही हैं तथा शेष चार (वाक्छल, सामान्यछल, संशयसम और वर्ण्यसम) नये हैं। इनके अतिरिक्त इसमें अन्य दोषों का प्रतिपादन नहीं है। पर न्यायप्रवेश[180] में पक्षाभास, हेत्वाभास और दृष्टान्ताभास इन तीन प्रकार के अनुमान-दोषों का कथन है। पक्षाभास के नौ[181], हेत्वाभास के तीन[182], और दृष्टान्ताभास के दश[183] भेदों का सोदाहरण निरूपण है। विशेष यह कि अनेकान्तिक हेत्वाभास के छह भेदों में एक विरुद्धाव्यभिचारी[184] का भी कथन उपलब्ध होता है, जो तार्किकों द्वारा अधिक चर्चित एवं समालोचित हुआ है। न्यायप्रवेशकार[185] ने दश दृष्टान्ताभासों के अन्तर्गत उभयासिद्ध दृष्टान्ताभास को द्विविध वर्णित किया है और जिससे प्रशस्तपाद जैसी ही उनके दृष्टान्ताभासों की संख्या द्वादश हो जाती है। पर प्रशस्तपादोक्त द्विविध आश्रयासिद्ध उन्हें अभीष्ट नहीं है।

कुमारिल[186] और उनके व्याख्याकार पार्थसारथि[187] ने मीमांसक दृष्टि से छह प्रतिज्ञाभासों, तीन हेत्वाभासों और दृष्टान्तदोषों का प्रतिपादन किया है। प्रतिज्ञाभासों में प्रत्यक्षविरोध, अनुमानविरोध और शब्दविरोध ये तीन प्रायः प्रशस्तपाद तथा न्यायप्रवेशकार की तरह ही हैं। हाँ, शब्दविरोध के प्रतिज्ञातविरोध, लोकप्रसिद्धिविरोध और पूर्वसंजल्पविरोध ये तीन भेद किये हैं। तथा अर्थापत्तिविरोध, उपमानविरोध और अभावविरोध ये तीन भेद सर्वथा नये हैं, जो उनके मतानुरूप हैं। विशेष[188] यह कि इन विरोधों को धर्म, धर्मी और उभय के सामान्य तथा विशेष स्वरूपगत बतलाया गया है। त्रिविध हेत्वाभासों के अवान्तर भेदों का भी प्रदर्शन किया है और न्यायप्रवेश की भाँति कुमारिल[189] ने भी माना है।

सांख्यदर्शन में युक्तिदीपिका आदि में तो अनुमानदोषों का प्रतिपादन नहीं मिलता। किन्तु माठर[190] ने असिद्धादि चौदह हेत्वाभासों तथा साध्यविकलादि दश साधर्म्य-वैधर्म्य निदर्शनाभासों का निरूपण किया है। निदर्श-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाभासों का प्रतिपादन उन्होंने प्रशस्तपाद के अनुसार किया है। अन्तर इतना ही है कि माठर ने प्रशस्तपाद के बारह निदर्शनाभासों में दश को स्वीकार किया है और आश्रयासिद्ध नामक दो साधर्म्य-वैधर्म्य निदर्शनाभासों को छोड़ दिया है। पक्षाभास भी उन्होंने नौ निर्दिष्ट किये हैं।

जैन परम्परा के उपलब्ध न्यायग्रन्थों में सर्वप्रथम न्यायावतार में अनुमान-दोषों का स्पष्ट कथन प्राप्त होता है। इसमें पक्षादि तीन के वचन को परार्थानुमान कहकर उसके दोष भी तीन प्रकार के बतलाये हैं[191] १. पक्षाभास, २. हेत्वाभास और ३. दृष्टान्ताभास। पक्षाभास के सिद्ध और बाधित ये दो[192] भेद दिखाकर बाधित के प्रत्यक्षबाधित, अनुमानबाधित, लोकबाधित और स्ववचनबाधित—ये चार[193] भेद गिनाये हैं। असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक तीन[194] हेत्वाभासों तथा छह साधर्म्य और छह[195] वैधर्म्य कुल बारह दृष्टान्ताभासों का भी कथन किया है। ध्यातव्य है कि साध्यविकल, साधनविकल और उभयविकल ये तीन साधर्म्य-दृष्टान्ताभास तथा साध्याव्यावृत्त, साधनाव्यावृत्त और उभयाव्यावृत्त ये तीन वैधर्म्य दृष्टान्ताभास तो प्रशस्तपादभाष्य और न्यायप्रवेश जैसे ही हैं किन्तु सन्दिग्धसाध्य, सन्दिग्धसाधन और सन्दिग्धोभय ये तीन साधर्म्यदृष्टान्ताभास तथा सन्दिग्धसाध्यव्यावृत्ति, सन्दिग्धसाधनव्यावृत्ति और सन्दिग्धोभयव्यावृत्ति ये तीन वैधर्म्यदृष्टान्ताभास न प्रशस्तपादभाष्य में हैं[196] और न न्यायप्रवेश[197] में। प्रशस्तपादभाष्य में आश्रयासिद्ध, अननुगत और विपरीतानुगत ये तीन साधर्म्य तथा आश्रयासिद्ध, अव्यावृत्त और विपरीतव्यावृत्त ये तीन वैधर्म्यनिदर्शनाभास हैं। और न्यायप्रवेश में अनन्वय तथा विपरीतान्वय ये दो साधर्म्य और अव्यतिरेक तथा विपरीतव्यतिरेक ये दो वैधर्म्य दृष्टान्ताभास उपलब्ध हैं। पर हाँ, धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु[198] में उनका प्रतिपादन मिलता है। धर्मकीर्ति ने सन्दिग्धसाध्यादि उक्त तीन साधर्म्य-दृष्टान्ताभासों और सन्दिग्धव्यतिरेकादि तीन वैधर्म्यदृष्टान्ताभासों का स्पष्ट निरूपण किया है। इसके अतिरिक्त धर्मकीर्ति ने न्यायप्रवेशगत अनन्वय, विपरीतान्वय, अव्यतिरेक और विपरीतव्यतिरेक इन चार साधर्म्य-वैधर्म्य दृष्टान्ताभासों को अपनाते हुए अप्रदर्शितान्वय और अप्रदर्शितव्यतिरेक इन दो नये दृष्टान्ताभासों को और सम्मिलित करके नव-नव साधर्म्य-वैधर्म्य दृष्टान्ताभास प्रतिपादित किये हैं।

अकलंक[199] ने पक्षाभास के उक्त सिद्ध और बाधित दो भेदों के अतिरिक्त अनिष्ट नामक तीसरा पक्षाभास भी वर्णित किया है। जब साध्य शक्य (अबाधित), अभिप्रेत (इष्ट) और असिद्ध होता है तो उसके दोष भी बाधित, अनिष्ट और सिद्ध ये तीन कहे जाएँगे। हेत्वाभासों के सम्बन्ध में उनका मत है कि जैन-न्याय में हेतु न त्रिरूप है और न पाँच रूप; किन्तु एकमात्र अन्यथानुपपन्नत्व (अविनाभाव) रूप है। अतः उसके अभाव में हेत्वाभास एक ही है और वह है अकिंचित्कर। असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक ये उसी का विस्तार हैं। दृष्टान्त के विषय में उनकी मान्यता है कि वह सर्वत्र आवश्यक नहीं है। जहाँ वह आवश्यक है वहाँ उसका और साध्यविकलादि दोषों का कथन किया जाना योग्य है।

माणिक्यनन्दि[200], देवसूरि[201], हेमचन्द्र[202] आदि जैन तार्किकों ने प्रायः सिद्धसेन और अकलंक का ही अनुसरण किया है।

इस प्रकार भारतीय तर्कग्रन्थों के साथ जैन तर्कग्रन्थों में भी अनुमानस्वरूप, अनुमानभेदों अनुमानांगों, अनुमानावयवों और अनुमानदोषों पर पर्याप्त चिन्तन उपलब्ध है। □

सन्दर्भ एवं सन्दर्भ-स्थल

1. ""हेदुवादो णयवादो पवरवादो मग्गवादो सुदवादो।—भूतबलि-पुष्पदन्त, षट्खण्डा० 5/5/51, शोलापुर संस्करण 1965
2. दृष्टागमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते।—समन्तभद्र, युक्त्यनुशा० का० 48, वीरसेवामन्दिर, दिल्ली।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. अथवा हेऊ चउव्विहे पन्नत्ते तं जहा—पच्चक्खे अनुमाने उवमे आगमे। अथवा हेऊ चउव्विहे पन्नत्ते तं जहा—अत्थि तं अत्थि सो हेऊ, अत्थि तं णत्थि सो हेऊ, णत्थि तं अत्थि सो हेऊ, णत्थि त णत्थि सो हेऊ।
—स्थानांग सू०, पृ० 309–310

4. हिनोति परिच्छिन्नत्यर्थमिति हेतुः। 5. धर्मभूषण, न्यायदी०, पृ० 95-99

6. माणिक्यनन्दि, परीक्षामुख 3/57-58

7. तुलना कीजिए—
(1) पर्वतो यमग्निमान् धूमत्वान्यथानुपपत्तेः—धर्मभूषण, न्यायदी०, पृ० 95।
(2) यथाऽस्मिन् प्राणिनि व्याधिविशेषोऽस्ति निरामयचेष्टानुपलब्धेः।
(3) नास्त्यत्र शीतस्पर्श औष्ण्यात्।
(4) नास्त्यत्र धूमो नाग्नेः। —माणिक्यनन्दि, परीक्षामुख 3/87, 76, 82

8. गोयमा णो तिणट्ठे समट्ठे। से किं तं पमाणं? पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—पच्चक्खे अणुमाणे ओवम्मे जहा अणुओगद्दारे तहा णेयव्वं पमाणं। —भगवती० 5,3,191-92

9-10-11. अणुमाणे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—(1) पुव्ववं, (2) सेसव, (3) दिट्ठसाहम्मवं। से किं पुव्ववं? पुव्ववं—

माया पुत्तं जहा नट्ठं जुवाणं पुणरागयं।
काई पच्चभिजाणेज्जा पुव्वलिंगेण केणई॥

तं जहा—खेत्तेण वा, वण्णेण वा, लंछणेण वा, मसेण वा, तिलएण वा। से तं पुव्ववं। से किं त सेसवं? सेसवं पंचविहं पण्णत्तं। तं जहा—(1) कज्जेणं, (2) कारणेणं, (3) गुणेणं, (4) अवयवेणं, (5) आसएणं।
—मुनि श्री कन्हैयालाल, अनुयोगद्वार सूत्र, मूलसुत्ताणि, पृ० 539

12. कज्जेणं—संखं सद्देणं, भेरिं ताडिएणं, वसभं ढक्किएणं, मोरं किंकाइएणं, हयं हेसिएणं, गयं गुलगुलाइएणं, रहं घणघणाइएणं, से तं कज्जेणं। —अनुयोग० उपक्रमाधिकार, प्रमाणद्वार, पृ० 539।

13. कारणेणं—तंतवो पडस्स कारणं ण पडो तंतुकारणं, वीरणा कडस्स कारणं ण कडो वीरणाकारणं, मिप्पिंडो घडस्स कारणं ण घडो मिप्पिंडकारणं, से तं कारणेणं। —वही, पृ० 540

14. गुणेणं—सुवण्णं निकसेणं, पुप्फं गंधेणं, लवणं रसेणं, मइरं आसायएणं, वत्थं फासेणं, से तं गुणेणं।
—वही, पृ० 540

15. अवयवेणं—महिसं सिंगेणं, कुक्कुडं सिहाएणं, हत्थिं विसाणेणं, वराहं दाढाएणं, मोरं पिच्छेणं, आसं खुरेणं, वग्घं नहेणं, चमरिं बालग्गेणं, वाणरं लंगुलेणं, दुप्पयं मणुस्सादि, चउप्पयं गवयादि, बहुपयं गोमि आदि, सीहं केसरेणं, वसहं ककुहेणं, महिलं वलयबाहाए, गाहा-परिअर-बंधेण भडं जाणिज्जा, महिलियं निवसण्णं, सित्थेण दोणपागं, कविं च एक्काए गाहाए, से तं अवयवेणं। —वही, पृ० 540

16. आसएणं—अग्गिं धूमेणं, सलिलं बलागेणं, वुट्ठिं अब्भविकारेणं, कुलपुत्तं सीलसमायारेणं। से तं आसएणं। से त्तं सेसवं। —वही, पृ० 540-41

17. से किं तं दिट्ठसाहम्मवं? दिट्ठसाहम्मवं दुविहं पण्णत्तं। त जहा—सामन्नदिट्ठं च विसेसदिट्ठं च।
—वही, पृ० 541-42

18. तस्स समासओ तिविहं गहणं भवई। तं जहा—(1) अतीतकालगहणं, (2) पडुप्पण्णंकालगहणं, (3) अणागयकालगहणं। —वही, पृ० 541-42

19. अक्षपाद, न्यायसू०, 1/1/5
20. उपायहृदय, पृ० 13
21. ईश्वरकृष्ण, सां० का० 5,6
22. त० सू० 10/5, 6, 7
23. आप्तमीमांसा 5, 17, 18 तथा युक्त्यनु० 53
24. स० सि० 10/5, 6, 7

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

25. न्यायव० 13, 14, 17, 18, 19 26. दशवै० नि० गा०, 49-137
27. प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः ।—प्र० परी० पृ० 45 में उद्धृत कुमारनन्दि का वाक्य ।
28. श्री दलसुखभाई मालवणिया, आगम युग का जैन दर्शन, प्रमाण खण्ड, पृ० 157
29. मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् । तत्प्रमाणे । आद्ये परोक्षम् । प्रत्यक्षमन्यत् ।
—तत्वा० सू०, 1/9, 10, 11, 12
30. मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ।—वही, 1/13
31. गृद्धपिच्छ, त० सू०, 1/13
32. अनुमानमपि द्विविधं गौणमुख्यविकल्पात् । तत्र गौणमनुमानं त्रिविधं स्मरणं प्रत्यभिज्ञा तर्कश्चेति ।
—वादिराज, प्र० नि० पृ० 33, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई ।
33. अकलंकदेव, त० वा०, 1/20, पृ० 78, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी ।
34. अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम् ।—न्यायसू० 1/1/5
35. अथवा पूर्ववदिति—यत्र यथापूर्वं प्रत्यक्षभूतयोरन्यतरदर्शनेनान्यतरस्याप्रत्यक्षस्यानुमानम् । यथा धूमेनाग्निरिति ।
—न्यायभा० 1/1/5, पृ० 22
36. यथा धूमेन प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य बह्नेर्ग्रहणमनुमानम् ।—वही, 1/1/47, पृष्ठ 110
37. वही, 1/1/1, पृष्ठ 7
38. वही, 1/1/1, पृष्ठ 7
39. साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः ।—माणिक्यनन्दि, परीक्षामुख 3/15
40. व्याप्यस्य ज्ञानेन व्यापकस्य निश्चयः, यथा वह्निर्धूमस्य व्यापक इति धूमस्तस्य व्याप्त इत्येवं तयोर्भूयः सहचारं पाकस्थानादौ दृष्ट्वा पश्चात्पर्वतादौ उद्धूयमानशिखस्य धूमस्य दर्शने तत्र वह्निरस्तीति निश्चीयते ।
—वाचस्पत्यम्, अनुमान शब्द, प्रथम जिल्द, पृष्ठ 181, चौखम्बा, वाराणसी सन् 1962 ई०
41. अनुमानस्य द्वे अंगे व्याप्ति पक्षधर्मता च ।—केशवमिश्र, तर्कभाषा, अनु० निरू० पृष्ठ 88-89
42. व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता ।—अन्नम्भट्ट, तर्कसं० अनु० वि० पृष्ठ 57
43. यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति साहचर्य नियमो व्याप्तिः ।
—तर्क सं०, पृष्ठ 54 ; तथा केशवमिश्र, तर्कभा०, पृष्ठ 72
44. पक्षधर्मत्वहीनो पि गमकः कृत्तिकोदयः । अन्तव्याप्तेरतः सैव गमकत्व प्रसाधनो ।।
—वादीभसिंह, स्या० सि० 4/83/84
45. साध्य निर्देशः प्रतिज्ञा । —अक्षपाद, न्यायसू० 1/1/33
46. प्रज्ञापनीयेन धर्मेण धर्मिणो विशिष्टस्य परिग्रहवचनं प्रतिज्ञा साध्य निर्देशः अनित्यः शब्द इति ।
—वात्स्यायन, न्यायभा०, 1/1/33 तथा 1/1/34
47. अनुमेयोद्देशो विरोधी प्रतिज्ञा । प्रतिपिपादयिषितधर्मविशिष्टस्य धर्मिणोपदेश-विषयमापादयितुमुद्देशमात्रं प्रतिज्ञा ।
—प्रशस्तपाद, वैशि० भाष्य पृष्ठ 114
48. यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते । तदभावे च नास्त्येव तल्लिंगमनुमापकम् ।—वही, पृष्ठ 100
49. प्र० भा०, पृष्ठ 100
50. पक्षः प्रसिद्धो धर्मो········। हेतुस्त्रिरूपः । किं पुनस्त्रैरूप्यम् ? पक्षधर्मत्व सपक्षे सत्वं विपक्षे त्वासत्वमिति । तद्यथा । अनित्यः शब्द इति पक्षवचनम् । कृतकत्वादिति पक्षधर्मवचनम् । यत्कृतकं तदनित्यं दृष्टं यथा घटादिरिति सपक्षानुगम-वचनम् । यन्नित्यं तदकृतकं दृष्टं यथाकाशमिति व्यतिरेकवचनम् । —शंकरस्वामी, न्याय प्र०, पृष्ठ 1-2

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

51. उद्योतकर, न्यायवा०, 1/1/35, पृष्ठ 129-131
52. वाचस्पति, न्यायवा० ता० टी०, 1/15, पृष्ठ 171
53. उदयन, किरणा०, पृ० 290, 294
54. त० चि० जागदी० टी०, पृ० 13, 71
55. केशव मिश्र तर्कभा० अनु० निरू०, पृ० 88-89
56-57. धर्मकीर्ति, न्यायवि०, द्वि० परि० पृ० 22
58. अर्चट, हेतुवि० टी०, पृ० 24
59. न्यायवि० 2/176
60. सिद्धसेन, न्यायव० का० 20
61. न्यायवि० 2/221
62. प्रमाण परीक्षा, पृ० 49
63. वादीभसिंह, स्या० सि०, 4/87
64. अकलंक, लघीय० 1/3/14
65. न्यायसू० 1/1/5; 34, 35
66. न्यायभा० 1/1/5, 34, 35
67. लिंग-लिंगिनो सम्बन्धदर्शन लिंगदर्शनं चाभिसम्बध्यते। लिंगलिंगिनोः सम्बद्धयोर्दर्शनेनं लिंगस्मृतिरभिसम्बध्यते। —न्यायभा० 1/1/5
68. उदाहरणसाधर्म्यात् साध्य-साधनं हेतुः। तथा वैधर्म्यात्। —न्यायसू० 1/1/34, 35
69. (क) अविनाभावेन प्रतिपादयतीति चेत्। अथापीदंस्यात् अविनाभावोग्नि-धूमयोरतो धूमदर्शनायग्निं प्रतिपद्यत इति। तन्न। विकल्पानुपपत्तेः। अग्निधूमयोरविनाभाव इति कोर्थः? किं कार्यकारणभावः उतैकार्थसमवायः तत्सम्बन्धमात्रं वा। —उद्योतकर, न्यायवा० 1/1/5, पृ० 50 चौखम्भा, काशी, 1916 ई०
(ख) अथोत्तरभवधारणमवगम्यते तस्य व्याप्तिरर्थः तथाप्युनेषमवधारितं व्याप्त्या न धर्मो, यत एव करणं ततोन्यत्रावधारणमिति। सम्भवव्याप्त्या चानमेयं नियत—। —वही, 1/1/5, पृ० 55-56
70. (क) सामान्यतोदृष्टं नाम अकार्याकारणीभूतेन यत्राविनाभाविना विशेषणेन विशेष्यमाणो धर्मो गम्यते तत् सामान्यतोदृष्टं यथा बलाकया सलिलानुमानम्। —न्यायवा० 1/1/5, पृ० 47
(ख) प्रसिद्धमिति पक्षे व्यापकं, सदिति सजातीये स्ति, असन्दिग्धमिति सजातीयाविनाभावि। —वही, 1/1/15, पृ० 49
71. यद्यप्यविनाभावः पचसु चतुर्षु र्वा रूपेषु लिंगस्य समाप्यते इत्याविनाभावेनैव सर्वाणि लिंगरूपाणि संगृह्यन्ते, तथापोह प्रसिद्धसच्छब्दाभ्यां द्वयोःसंग्रहे गावलीबर्दन्यायेन तत्परित्यज्य विपक्षव्यतिरेकासत्प्रतिपक्षत्वाबाधितविषयत्वानि संगृह्णाति। —न्यायवा० ता० टी०, 1/1/5, पृ० 178
72. एतेषु पंचलक्षणेषु अविनाभावः समाप्यते। —न्यायकलिका, पृ० 2
73. अविनाभावो व्याप्तिनियमः प्रतिबन्धः साध्याविनाभावित्वमित्यर्थः। —न्यायकलिका, पृ० 2
74. तस्माद्यो वा स वा स्तु, सम्बन्धः, केवलं यस्यासौ स्वाभाविको नियतः स एव गमको गम्यश्चेतरः सम्बन्धोति युज्यते। तथा हि धूमादीनां वह्न्यादि-सम्बन्धः स्वाभाविकः, न तु वह्न्यादीनां धूमादिभिः।—तस्मादुपाधिं प्रयत्नेनान्विष्यन्तो नुपलभमाना नास्तीत्यवगम्य स्वाभाविकत्वं सम्बन्धस्य निश्चिनुमः। —न्याया० ता० टी० 1/1/5, पृ० 165
75. किरणा० पृ० 290, 294, 295-302
76. तर्कभा० पृ० 72, 78, 82, 83, 88
77. तर्कसं० पृ० 52-57
78. सि० मु० का०, 68, पृ० 51-55
79. इनके ग्रन्थोद्धरण विस्तारभय से यहां अप्रस्तुत हैं।
80. त० चि०, अनु० खण्ड, पृ० 13
81. वही, पृ० 77-82, 86-89, 171-208, 209-432
82. वही अनु० खं०, पृ० 623-631
83-84. प्र० भा० पृ० 103 तथा 100
85. वही, ढुण्ढिराज शास्त्री, टिप्प०, पृ० 103
86. प्र० भा० टिप्प०, पृ० 103
87. किरणा०, पृ० 297
88. मी० श्लोक अनु० खं० श्लोक 4,12,43 तथा 161
89. न्या० प्र० पृ० 4-5
90. प्रमाण वा० 1/3, 1/32 तथा न्यायवि० पृ० 30,93 ; हेतु वि० पृ० 54

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

91. न्याय वि० टी०, पृ० 30
92. हेतुबि० टी०, पृ० 7-8, 10-11 आदि
93. श्री जुगलकिशोर मुख्तार, स्वामी समन्तभद्र, पृ० 196
94. अस्तित्व प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि ।
नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि ।।—आप्तमी० का० 17-18
95. धर्मधर्म्यविनाभावः सिद्ध्यत्यन्योन्यवीक्षया ।—वही, का० 75
96. स० सि० 5/18, 10/4
97. न्यायाव० 13, 18, 20, 22
98. तत्वसं० पृ० 406 पर उद्धृत 'अन्यथानुपपन्नत्वे' आदि का० ।
99. प्र० प० पृ० 49 में उद्धृत 'अन्यथानुपपत्येकलक्षण' आदि कारि०
100. न्या० वि० 2/197, 323, 327, 329
101. परी० मु० 3/11, 15, 16, 94, 95, 96
102. साधन प्रकृताभावेनुपपन्नं ।—न्यायवि० 2/69, तथा प्रमाण स० 21
103. अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थकल्पना ।—शाबरभा० 1/1/5, बृहती, पृ० 110
104. केयमन्यथानुपपत्तिर्नाम ?— न हि अन्यथानुपपत्तिः प्रत्यक्षसमधिगम्या ।—बृहती पृ० 110-111
105. तत्वसं० पृ० 405-408
106. वैशे० सू० 9/2/1
107. न्यायसू० 1/1/5
108. उपायहृदय पृ० 13
109. चरकसूत्रस्थान 11/21, 22
110. सां० का० का० 5
111. मुनि कन्हैयालाल, अनुयो० सू० पृ० 539
112. सां० का० का० 6
113. माठर वृ० का० 5
114. युक्तिदी० का० 5, पृ० 43-44 ।
115. प्रश० भा० पृ० 104, 106, 113
116. शाबर भा० 1/1/5, पृ० 36
117. सां० त० कौ०, का० 5, पृ० 30-32
118. न्यायवा० 1/1/5, पृ० 57
119. न्यायवा० ता० टी०, 1/1/5, पृ० 165
120. न्याय कु० च० 3/14, पृ० 462
121. न्यायवा० 1/1/5, पृ० 46
122. न्यायम० पृ० 130, 131
123. तर्कभा० पृ० 79
124. प्रमाणसमु० 2/1
125. न्याय वि० पृ० 21, द्वि० परि०
126. सिद्धसेन न्यायाव० का० 10 । अकलंक सि० वि० 6/2, पृ० 373 । विद्यानन्द, प्र० प० पृ० 58 । माणिक्यनन्दि, परी. मु. 3/52, 53 । देवसूरि, प्र. न. त. 3/9, 10 । हेमचन्द्र, प्रमाणमी. 1/2/8, पृ. 39 आदि ।
127. अकलंक, न्यायविनि० 341, 342 । स्याद्वदर. पृ. 527 आदि ।
128. प्रश. भा. पृ. 104
129. धर्मभूषण, न्यायदी. तृ. प्रकाश, पृ 72
130. वही, पृ. 72-73
131. न्याय सू. 1/1/32
132-133. न्यायभा. 1/1/32, पृ. 47
134-135. तस्य पुनरवयवाः—जिज्ञासा-संशय-प्रयोजन-शक्यप्राप्ति-संशयव्युदास-लक्षणाश्च व्याख्यांगम्, प्रतिज्ञा-हेतु-दृष्टान्तोपसंहार-निगमनानि पर-प्रतिपादनांगमिति । —युक्तिदी. का. 6, पृ. 47
136. अत्रधूमः—न, उक्तत्वात् । उक्तमेतत पुरस्तात् व्याख्यांगं जिज्ञासादयः । सर्वस्य चानुग्रहः कर्तव्य इत्येवमर्थं च शास्त्रव्याख्यानं विपश्चिद्भिः प्रत्याय्यते, न स्वार्थं सस्वद्वज्ञबुद्ध्यर्थं वा । —वही, का. 6, पृ. 49
137. 'तस्मात् सूक्तं दशावयवो वीतः । तस्य पुरस्तात् प्रयोगं न्याय्यमाचार्या मन्यन्ते ।' —यु. दी. का. 6, पृ. 51
'अवयवाः पुनर्जिज्ञासादयः प्रतिज्ञादयश्च । तत्र जिज्ञासादयो व्याख्यांगम्, प्रतिज्ञादयः परप्रत्यायनांगम् । तानुत्तरत्र वक्ष्यामः ।' —वही, का. 1 की भूमिका पृ. 3

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

138. युक्तिदीपिकाकार ने इसी बात को आचार्य (ईश्वरकृष्ण) की कारिकाओं—1, 15, 16, 35 ओर 57 के प्रतीकों द्वारा समर्थित किया है।—यु. दी. का. 1 की भूमिका पृ. 3
139. दशवै नि. गा. 49-137।
140. अवयवाः पुनः प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः। —प्रश. भा. पृ. 114
141. वही, पृ. 114, 115
142. न्याय प्र. पृ. 1
143. वही, पृ. 1, 2
144. माठर वृ. का. 5
145. वादन्या. पृ. 61। प्रमाण वा. 1/128। न्यायवि. पृ. 91
146. प्रमाण वा. 1/128। न्यायवि. पृ. 91
147. प्र. पं. पृ. 220
148. मा. मे. पृ. 64
149. न्यायरत्ना. पृ. 361 (मी. श्लोक अनु. परि. श्लोक 553)
150. न्याय व. 13-19
151. न्या. वि. का. 381
152. पत्रपरी. पृ. 18
153. परीक्षामु. 3/37
154. प्र. न. त. 3/28, 23
155. प्र. मी. 2/1/9
156. न्याय. दी. पृ. 76
157. जैनत. पृ. 16
158. प्र. न. त. 3/23, पृ. 548
159. परी. मु. 3/46। प्र. न. त. 3/42। प्र. मी. 2/1/10
160. प्र. न. त. 3/42, पृ. 565
161. प्र. मी. 2/1/10, पृ. 52
162. जैनत. भा. पृ. 16
163. प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः।—माणिक्यनन्दि परी. मु. मंगलश्लो. 1
164. न्यायसू. 2/1/38, 39
165. न्यायभा. 2/1/39
166. न्यायसू. 1/2/ 4-9
167. सव्यभिचार विरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः।—न्यायसू. 1/2/4
168. समस्तलक्षणोपपत्तिरसमस्तलक्षणोपपत्तिश्च।—न्यायवा. 1/2/4, पृ. 163
169. न्याय वा. ता. टी. 1/2/4, पृ. 330
170. हेतोः पंचलक्षणानि पक्षधर्मत्वादीनि उक्तानि। तेषामेकैकापाये पंच हेत्वाभासा भवन्ति असिद्ध-विरुद्ध-अनेकान्तिक-कालात्ययापदिष्ट-प्रकरणसमाः। —न्यायकलिका, पृ. 14; न्याय पं. पृ. 101
171. हेतुलक्षणाभावादहेतवो हेतुसामान्याद्धेतुवदाभासमानाः।—न्यायभा. 1/2/4 की उत्थानिका पृ. 63
172. प्रमाणमं. पृ. 9
173. वै. सू. 3/1/15
174. प्रश. भा. पृ. 101-102
175. प्रश. भा. पृ. 100
176. प्र. भा., पृ. 122-23
177. वही, पृ. 115
178. प्रमाणमं. पृ. 9
179. उ. हृ., पृ. 14
180. एषां पक्षहेतुदृष्टान्ताभासानां वचनानि साधनाभासम्।—न्या. प्र. पृ. 2-7
181-82-83. वही, 2, 3-7

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

184. वही, पृ. 4
185. न्यायप्र. पृ. 7
186. मी. श्लोक अनु. श्लोक 58-69, 108
187. न्याय रत्ना. मी. श्लोक. अनु. 58-69, 108
188. मी. श्लो. अनु. परि. श्लोक 70 तथा व्याख्या
189. वही, अनु. परि. श्लोक 92 तथा व्याख्या
190. माठर वृ. का. 5
191. न्यायव. का. 13, 21-25
192-93. न्यायाव., का 21
194. वही, का. 22-23
195. वही, का. 24-25
196. प्रश. भा. पृ. 123
197. न्यायप्र. पृ. 5-7
198. न्या. वि. तृ. परि. पृ. 94-102
199. न्यायविनि. का. 172, 299, 365, 366, 370, 381
200. परीक्षामुख 6/12-50
201. प्रमाणन. 6/38-82
202. प्रमाणमी. 1/2/14, 2/1/16-27

पुष्प-चिन्तन-कलिका

एक बार पत्ते ने वृक्ष से कहा—मैं कितने समय से तुम्हारे से बंधा रहा हूँ। मैं अब इस परतंत्र जीवन का अनुभव करते-करते ऊब गया हूँ। कहा भी है 'सर्वम् परवशं दुखं, सर्वम् स्ववशम् सुखं'। अब मैं सर्वतंत्र स्वतंत्र होकर विश्व का आनन्द लूटूंगा।

वृक्ष ने कहा—वत्स! तुम्हारी शोभा और जीवन परतंत्रता पर ही आधृत है। तुम देखते हो कि मेरा भाई—फल वृक्ष से मुक्त होकर मूल्यवान हो गया है। दुकानदार उसे टोपले में पत्तों की गद्दी बिछाकर सजाता है वैसे मैं भी आदर प्राप्त करूँगा पर तुम्हारी यह कमनीय कल्पना मिथ्या है। तुम अपना स्थान छोड़ोगे तो कूड़े-कर्कट की तरह फेंके जाओगे। बिना योग्यता के एक दूसरे की देखा-देखी करना हितावह नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org